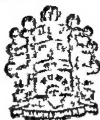
ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला
हिन्दी ग्रन्थांक ९१



सात गीत-वर्ष



धर्मवीर भारती

भा र ती य ज्ञा न पी ठ • का शी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०

प्रथम संस्करण
१९५९
मूल्य साढे तीन रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी
मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

सात गीत-वर्ष रचनाकाल '५१ से '५८

अनुक्रम

क्षण,

काव्य सृजनका,

सच है कि सबसे महत्त्वपूर्ण बिंदु है—लेकिन शायद यही है जिसके बारेमें स्वयं रचनाकार भी कठिनतासे ही कुछ निश्चयपूर्वक कह सकता है। वैसे तो मन पर उस क्षणका स्वाद बहुत ताजा छूट जाता है लेकिन जब उसे प्रगट करनेकी चेष्टा करो तो लगता है कि यह तो न मालूम कितने जाने अनजाने स्वादोंका सम्मिलित स्वाद है जिसके संवेदनको ठीक ठीक व्यक्त कर पाना असम्भव सा ही है। एक झिझक मनमें और होती है कि जो कुछ कहने सुनने लायक था वह तो एक-एक बूँद काव्यकृतिमें उँडेल कर वह क्षण रीत गया अब अपनी याददाश्तमें उसे फिरसे सम्पुंजित करनेकी चेष्टा भी करें तो ऐसा न हो कि उसका आस पास, परिस्थिति, समय, स्थान और आसंग तो वापस खोजे जा सकें—मगर उसका मर्म, उसका सारतत्त्व छूट ही जाय।

कई बार समकालीन लेखनमें भी रचना प्रक्रियाके ऐसे साङ्गोपाङ्ग विवरण देखनेको मिले हैं, पर उन्हें देखकर बहुधा यही भावना हुई है कि ये अजायबघरमें रक्खे हुए जलपाखी हैं, खालमढे मृतरूप जिनमें रूप-रंग, आकार, पंजे, पंख सब जुटा दिये गये हैं किन्तु गायब है तो केवल उसकी उड़ान—पूर्णिमाकी रातको चन्द्रमा और समुद्रके बीच उसकी आकुल आवेशभरी उड़ान, और गायब है उसकी अजीब-सी चीत्कार-भय, वेदना, उल्लास, उन्मत्त वासना, विजय और आशंकासे भरी हुई। अजायबघरका पाखी दूसरे दिन सुबह बालू पर छूट गया उसका अवशेष है—जल पाखी नहीं।

एक ओर यह दुष्कर कार्य और दूसरी ओर यह मेरा अजीब सा मन जिसे उन्मुख करो पूरबकी ओर तो भागेगा धुर पश्चिमकी ओर। नियोजित करो अपने काव्य-सृजनके क्षणोंको पुनः स्मरण करनेको, तो अदबदा कर उसे वे क्षण

याद आयेंगे जो मन पर जाते वक्त अपनी छाप छोड़ गये हैं लेकिन कार्य-कारणसे उनका दूरका लगाव भी नहीं है। शिमलेकी एक पहाड़ी नदीमें अंधेरेका स्नान, अपने पुराने घरके उखड़े पलस्तर वाली एक दीवार पर कल्पित बेडौल शक्लें, कोणार्कके रास्तेमें परदेके लाल उत्तप्त नोकीले फूल, बीमार पत्नीका मुरझाया चेहरा, तैरते हुए मछलियोंके झुण्ड और यह, और वह, और तमाम सब, लेकिन सब परस्पर असम्बद्ध और रचनाके क्षणमें जिनका कोई दूरका सूत्र भी नहीं जुड़ता।

o

लेकिन इन सबोंके बीच रह-रहकर मन एक स्मृतिचित्र पर बार-बार जा टिकता है, बहुत पुराना, लेकिन अब भी बिल्कुल ताज़ा।

कच्ची नींदमें मुझे जगा दिया गया है और ले जाया जा रहा है घनघोर अन्धेरेमें गाँवके बाहर उबड़ खाबड़ रास्ते परसे, खेत, टीला, पोखरोंके बीचसे, मीलों दूर, नहर वाली अमराईमें जहाँ देवकालिनका मन्दिर है। दीवालीकी छुट्टियाँ मनाने बदलने घर आया हूँ, इस छोटे से धूल भरे उदास टूटे फूटे पुराने कस्बेमें जहाँ सूरज डूबते ही रात हो जाती है, सड़क वीरान हो जाती है। मगर आज रातभर अन्धेरेमें पगध्वनियाँ सुनाई देगी क्योंकि आज प्रातःकाल देवीकी पूजा होती है और पीरके चबूतरे पर चादर चढ़ती है—उन पगध्वनियोंमें एक नन्हीं शिशार पगध्वनि मेरी भी है लेकिन डगमग क्योंकि मेरी आँखोंमें अब भी नींद है और अधनींदा चल रहा हूँ और घरवाले मेरा हाथ पकड़े हैं। अच्छी तरह याद है मुझे वे क्षण। अधनींदमें मुझे सामने कुछ नहीं दीखता सिवा टार्च से गिरा एक उजालेका गोल टुकड़ा जिसके पीछे मैं, और स्थिर है वह उजालेका वृत्त और स्थिर हूँ मैं—चल रहा है केवल वह पगडण्डी, कंकड़, पत्थर, मेड़, खेत परसे सरकती आती हुई, उस उजले वृत्तमेंसे टेढ़े मेढ़े बल

खाती हुइ, मरे पाँवोंके नीचे विलुप्त होती हुई। खड़ा हूँ मैं—स्थिर, नींद टूटा और अँधेरेमें चल रही हैं दुकानें, कुछ जानी कुछ अनजानी—अभी नम पानकी सर्द खुशबू, अभी अँधेरेमें सुनते उपलोंकी, अभी बनी हुई कुट्टी की, अभी रनतुलसाकी, अभी जगनी कबूतरोंके सत्वरंग परों की मानों मैं स्थिर खड़ा हूँ और रास्ता और उसका परिपार्श्व अलसाता आता हुआ मुझमेंसे गुजरता जाता है।

कब रास्ता खत्म हुआ, कब अँधेरा फट गया, कब अकस्मात् शून्यमें एक जगमग दृश्य प्रगट हो गया मेरे सामने—यह याद नहीं। सामने है मंदिर, चबूतरा, गैसके हण्डे, शहनाइयाँ, झाँझ, हारमोनियम, कव्वाली, अगर बत्तियाँ, आते हुए लोग, जाते हुए लोग, पुकारते हुए लोग, बोलते हुए लोग।

अब जाग गया हूँ मैं, जी रहा हूँ, सक्रिय हूँ। सब चीज़ें अपनी जगह स्थिर हैं, यहाँ तक कि बेहद शोरवाली भीड़ भी चेतनामें झलमलाते जलकी तरह चञ्चल मगर अपनी परिधिमें स्थिर है। चल रहा हूँ केवल मैं। एक जगह गुमसुम खड़ा मैं आ रहा हूँ, जा रहा हूँ, इसमेंसे, उसमेंसे—इसके बगलसे, उसके पाससे नहरकी पुलियाके पास गुमसुम खड़ा मैं।

काफी देर हो चुकी है। घर वाले सुबह तक यहीं जाग रहा करेंगे। मुश्किलसे इजाजत मिली है घर लौटनेकी अकेले। मैं मुड़ा—रोशनीका जगमगाता द्वीप पीछे छूट गया—सामने है अँधेरेका विशाल समुद्र अथाह दूर तक फैला हुआ।

दृश्यान्तर। लौट रहा हूँ जहाँसे आया था वहाँ। सब कुछ वही है पर इतनी ही देरमें कुछ भी तो वही नहीं। कहाँ हैं वे जो मेरे साथ थे। कहाँ है प्रकाशद्वीपके पीछे मेरी स्थिरता। हाथोंमें टार्चकी रोशनी है लेकिन अथाह अँधेरेमें क्षुद्र, असहाय, अनिश्चयग्रस्त, धुँधली, सहमी हुई, पथके

हर रोड़ेसे टकरा कर टूटती हुई, हर झाड़ीमें उलझ कर तार-तार होती हुई

और पहली बार तो नहीं थे, इस बार कहाँसे आ गये ये फटे पेड़ोंके ठूँठ, प्रेत, झाड़ियोंमें छिपी अजाने भयकी चमकती आदमखोर आँखें, पानीके अन्धेरेपन पर तैरती गूँगी छायाएँ और मेरा गला सूखने लगा, कब पानीमें से ताकत जाने सी लगी मैं नहीं जानता। और पहली बार, पहली बार मेरे उस किशोर मनको लगा कि मैं अथाह शून्यके समक्ष खड़ा हूँ। मृत्यु नहीं, आपदा नहीं,—शून्य।

पीछे मुड़ कर देखा मन्दिर और रोशनी और भीड़ भाड़ अँधेरेमें विलीन हो चुके थे। लगता था कि विशाल जलयान टूट गया और डूब गये लोग और अब मैं पुकारूँ भी तो कोई बचाने नहीं आयेगा।

और सामने देखा और याद करनेकी कोशिश की पुराना कस्बा और धीमी लालटेनमें बच्चोंको सुलाकर जागती हुई बहनका ममता भरा चेहरा—पर वह भी उस अन्धेरेमें नहीं दीखा, नहीं दीखा। वह ऐसा भविष्य लगा जो बीत गया अब कितना भी चलूँ वापस नहीं मिलेगा।

कितना अजीब अकेलापन—राह है, कदम हैं, घर है लेकिन कुछ भी नहीं। एक विराट अनस्तित्व। अन्धेरा, अनिश्चय, विराट, अथाह और उसके समक्ष मैं—निहत्था—अपने अतीत और भविष्यसे भी वंचित। जहाँ पहुँचा था वहाँसे चला हूँ, जहाँसे चला था वहीं जा रहा हूँ पर जहाँ पहुँचा था वह डूब चुका है और जहाँ जाना है वह पता नहीं अन्धेरेके पार है भी या नहीं।

एक विराट अनस्तित्व, शून्य, अन्धकार



शायद यह यात्रा हम जीवन भर करते रहते हैं और कितनी बार, कितनी बार, यह अनस्तित्व, यह शून्य हमको जीने लगता है, और हम पाते हैं कि हमारा समस्त आस पास उजाला, भाड़भाड़, विज्ञान, दर्शन, अकस्मात् अनस्तित्वमें लीन हो गया है। है, लेकिन नहीं है। अन्धेरेमें हैं हम—अकेले, निहत्थे, असहाय। या शायद हम भी

नहीं सिर्फ़ प्रगाढ़ अन्धकारमें छिपे हाथोंकी खोज, गोल
लेकिन फिर हम पाते हैं कि हम बच गये हैं। होता क्या
है कहना कठिन है। बाहर सिर्फ़ इतना होता है कि यन्त्र
चालित गतिसे कदम उठते जाते हैं। इस दौरानमें अन्दर
क्या घटित होता है इसका अनुमान करना कठिन है।

शायद होता यह है कि हमारे अतीत और भविष्य
का जगत् दोनों अकस्मात् मिथ्या पड़ जाते हैं। मानस बच
जाते हैं हम, वर्तमान क्षणके तख्तेपर, और ताकि हम जाते
रहें—संसारको पुनः उत्पन्न होना पड़ता है भयमेंसे, यातना
मेंसे, शून्यमेंसे।

या शायद संसार यथावत् रहता है लेकिन अतीत
और भविष्यसे पूर्णतः विच्छिन्न होकर हम अपने अन्दर कहीं
मृत हो जाते हैं और उस क्षणमें फिर हम अपनेको रचते
हैं और फिर मानो नये सिरेसे धारण करते हैं।

या शायद न संसार नष्ट होता है न हम। केवल
हमारी पुरानी जगत्-चेतना अकस्मात् बिलकुल शून्य पड़
जाती है—अतीत और भविष्यके प्रति, बाह्य और अन्तरके
प्रति हमारे सारे अद्यावधि स्थापित सम्बन्ध अकस्मात् टूट
जाते हैं और हम फिर नितान्त शून्यमेंसे उभरकर उन
सम्बन्ध सूत्रोंको नये स्तरपर जोड़ते हैं और अपने नव रचित
सम्बन्धोंके वर्तमानके आधारपर हम अपने अतीत और
भविष्यकी नित नूतन उपलब्धि करते हैं।

शायद

हाँ यह 'शायद' बहुत महत्त्वपूर्ण है। शायद इनमेंसे कोई
एक प्रक्रिया घटित होती है, या शायद सब होती हैं, या शायद
कोई नहीं होती। होता है कुछ और

शायद हम भी रहते हैं और संसार भी। नष्ट कुछ
नहीं होता। जहाँसे हम चलते हैं वह भी और जहाँ तक
हम पहुँचते हैं वह भी। हम धारणाएँ जो चुने होते हैं,
अपनेमें धारण किये हुए होते हैं लेकिन अकस्मात् किसी एक
क्षणमें हम पाते हैं कि यह सब है तो पर अकस्मात् हमारे
लिए अर्थहीन हो गया है, अनिश्चित हो गया है। और हम

विराट शून्यमें अकेले छूटते जा रहे हैं और हम अकेले छूटना नहीं चाहते। जाना चाहते हैं और अस्तित्वमेंसे अस्तित्व पानेके लिए अभिव्यक्त करना चाहते हैं अपनेको, और बिना सतहके हम अपनेको अभिव्यक्त कैसे करेंगे, अत हम किसी एक स्तरपर मूल्य और अर्थ देते हैं हर चीज़को और हर चीज़के माध्यमसे अपनेको। पाये हुए और पाकर खोये हुए सतहको किसी एक स्तरपर 'रचते' हैं। ऐसे स्तरपर जहाँ कुछ भी फिर कभी धुँधला और अर्थहीन न पड़े।

जीवनमें जिये हुए अनुभवों, संवेदना, पीड़ाओं और सुखोंमें तथा काव्यमें रचे हुए पीड़ाओं, सुखों और संवेदना-वाले जीवनमें शायद यही सम्बन्ध है और यही अन्तररेखा। अपनी चरम निजी अनुभूति और व्यापक संसार, क्षण और निरवधि कालके बीच अधरी राहपर कहीं एक भूमि है जहाँ शून्यको पराजित कर हम 'रचते' हैं स्थायित्व देनेके लिए और सार्थकता पानेके लिए। जो पाकर खोया जा सकता है उसे रचनेके ऐसे बिन्दुपर उपलब्ध करनेके लिए जहाँसे वह फिर खोया न जाय।

क्या ऐसा है कि समूची जीवन प्रक्रिया अलग चलती रहती है और रचना प्रक्रियाका यह घनीभूत क्षण अकस्मात् कभी रहस्यमय ढङ्गसे अकारण आ जाता है। शायद नहीं। कितने ही क्षण हैं, कितनी स्थितियाँ हैं जो प्रत्यक्षतः असम्बद्ध लगती हैं पर कुल मिलाकर हमारे चेतन या अर्धचेतन मनमें लहरपर लहर इस एक बिन्दुको उभारती रहती है। (क्या इसीलिए, जैसा मैंने प्रारम्भमें कहा, किसी एक क्षणको याद करनेके बजाय मेरा मन जाने कहाँ कहाँ भटक जाता है) । जब समूची जीवन प्रक्रिया किसी न किसी रूपमें रचनाके क्षणसे सम्बद्ध होती है तो वे लोग जो अक्सर आरोप लगाते हैं कि अमुक कविता है तो मर्मस्पर्शी लेकिन जीवनसे दूर है, वे कविताके बारेमें क्या और कितना जानते हैं यह कहना कठिन है। जो सारा काव्य है उसकी रचना प्रक्रियामें, कितने ही अप्रत्यक्ष रूपमें हो, किन्तु जीवन प्रक्रिया अनिवार्यतः उलझी रहती है।

कितनी विभिन्न स्थितियोंमसे, हम इस जीवनको उप लब्ध करते हैं। अधिकतर तो यह लगता है कि हम जा नहीं रहे हैं, लिये जा रहे हैं। कभी उस नींद-डूबी यात्रा की तरह धुएँ चलाते हुए भी अहसास स्थिरताका होता है और लगता यह है कि हम ठहरे हैं पर बाकी सब हममेंसे गुजरता जा रहा है। कभी खुद पुलियाके पास चुपचाप खड़े रहते हैं पर अहसास यह होता है कि बेशुमार भीड़मसे हम हरेकमेंसे आ रहे हैं, जा रहे हैं। कभी अपनेमें 'सर्व' का, 'प्रत्येक' का साक्षात्कार करना और कभी 'सर्व' में, 'प्रत्येक' में, अपना। ये सब जाने कितनी स्थितियाँ हैं जो रचनाके क्षणोंमें सार्थक होती हैं। वह एक बिन्दु है जिसमें से सब सस्तरण करता है, पुनः रचे जानेके लिए।

और यह प्रक्रिया केवल कुछ चुने हुए अत्यन्त सुविधा पूर्ण क्षणोंमें ही नहीं घटित होती। रोजमर्राकी जिन्दगीके तथाकथित अत्यन्त गद्यात्मक नीरस काम, दफ्तर, बाज़ार, सौदा-सुलुफ, हारी बीमारी, रोजगारके बीच भी रचनाकार का मन अनजाने चुपचाप काव्य सृजनकी भूमिका प्रस्तुत करता रह सकता है। इसीलिए जाने कितने रूपोंमें कितने प्रकारसे जीवन तथा बाह्य परिवेश काव्य-कृतिमें समाविष्ट होता चलता है। यही कारण है कि खरी काव्य-कृतिका मुख्य गुण है सजगता, अनायास सजीवता। और यही कारण है कि जब सहज रचना प्रक्रियामें व्यवधान उत्पन्न कर प्रयासपूर्वक जीवन या जीवनकी ऐसी व्याख्याएँ काव्यपर जबर्दस्ती आरोपित करनेकी चेष्टा की जाती है, जो रचनाके अपने आन्तरिक सृजन विकाससे उद्भूत नहीं हैं, तो वे निश्चित रूपसे काव्यका बिखाव ही बनाती हैं। जब भी काव्यमें 'दृष्टि' उभरी है तो तभी जब रचनाकारके मनमें दोनों ही स्तर स्वतः सजग और सक्रिय रहे हैं, दोनों ही एक दूसरेको अनुप्राणित भी करते चले हैं और अनुशासित भी, कभी विरोधी स्थितियोंमें कभी समानान्तर स्थितियोंमें, कभी पूरक स्थितियोंमें।

०

निस्सन्देह रचनाकारके मनकी यह स्थिति काफी जटिल होती है। इस जटिल स्थितिको समझने या जी सकनेमें जो

असमर्थ होते हैं वे अक्सर इसे सरल करनेकी कोशिश करते हैं—इनमेंसे किसी एक स्तरको खारिज कर। सरलताकी ओर अनात्यात्मक पलायनका एक रूप वह होता है जब रचना प्रक्रियाकी अनिवार्य प्रकृतिगत माँगोंकी उपेक्षा कर जीवनकी किसी एक संकीर्ण परिधिको ही सब कुछ थाप दिया जाता है और कविमें केवल निर्देशित विषय (शास्त्र द्वारा, धर्म द्वारा, राजसत्ता द्वारा) नीति, आदेश, योजना, फतवोंके पद्यान्तरण तक सीमित हो जाता है। ऐसे काव्यका खोखला पन जाहिर होते देर नहीं लगती। सरलताकी ओर दूसरा अध्यात्मिक पलायन है उनका जो समूची जीवन प्रक्रिया और यथार्थकी कठोर भूमिसे असम्पृक्त रहना चाहते हैं अत वे रचना प्रक्रियाको जीवन प्रक्रियासे नितान्त पृथक्, कभी कभी अनिवार्यत विरोधी मान लेते हैं। वे कहते हैं कि उनकी काव्यप्रेरणा किसी दिव्य अशरीरी लोकसे आती है, उनका रचनाकार 'द्रष्टा' और 'स्वयभू' है अत साधारण प्राणीसे कुछ ज्यादा ऊँचा है—और फिर यह तर्क यहाँ तक ले जाता है कि न केवल रचनाकारके 'प्राण', वरन् उसकी वेशभूषा, बातचीत, तौर तरीक़ा, सब साधारणसे कुछ पृथक् होनी अनिवार्य हो जाती है—लोकोत्तर—क्योंकि उसकी मृदु-मृदु प्रतिभा तो इस लोकमें भटकी हुई अश्रुमय कोमल परदेशिनी है।

काव्यसृजनकी वास्तविक भूमिकी जटिलतासे ये दोनों मार्ग मुक्ति दिलाते हैं अवश्य, यह बात दूसरी है कि इन दोनों मार्गों पर चलकर वह न मिले जो सम्पूर्णत कविता है, या जो प्रौढ कविता है। कभी कभी रोचक लगता है उनकी नियति जो कभी इस मार्ग पर भागते हैं कभी उस मार्ग पर और ज्यों ज्यों आगे जाते हैं त्यों त्यों मूलत कविता से दूर होते जाते हैं।

इनसे बहुत अलग है वह मनःस्थिति जो अपनेको रचनाकार मानते हुए भी अपनेको सामान्यसे पृथक् नहीं मानती, रोजमर्राकी ज़िन्दगीमें अपनेको परदेशिनी नहीं मानती।

ऐसे लोग असाधारणताका जामा नहीं ओढ़ते, सहज रूपमें जीवनको सम्पूर्ण परिवेशमें जीनेके हामी हैं, व्यक्तिताको हारते नहीं, जगत्‌को नकारते नहीं, और अपने हर अन्वेषणमें अभिव्यक्तिके द्वारा अपनोंका 'सर्व' से 'प्रत्येक' से जोड़नेकी चेष्टा करते हैं। यह उनकी अपेक्षा होगी ही, पर इससे क्या, वे रचते भी तो इसीमें हैं।



काव्य सृजनकी इस जटिल भूमि पर, इस तमाम प्रक्रियामेंसे एक सजीव रचना उभरती आती है, मनके चेतन और अर्द्धचेतन स्तरोंसे रूपायित होती हुई। कभी, धीरे धीरे विभिन्न स्थितियोंमेंसे गुजरते हुए, एक एक कण बनते हुए, रचनाकार अपने चेतन अयास उसे महसूस करता है। कभी-कभी रचनाकी प्रारम्भिक स्थितियोंसे रचनाकारका चेतन मन स्वतः अनजान रहता है। जानता है तब, जब अकस्मात् उसका विस्फोट होता है। घण्टे भरमें, दो घण्टे भरमें माध्यम सा रचनाकार उसे प्रस्तुत कर देता है।

एक सप्राण सजीव रचना प्रस्तुत कर देनेके बाद फिर रचनाकारका कार्य समाप्त हो जाता है।

उसके बाद फिर प्रक्रियाका दूसरा मोड़ प्रारम्भ हो जाता है जिसमें रचना सीधे पाठकके समक्ष होती है और रचनाकार बीचमें हट जाता है। अब नये प्रश्न उठने लगते हैं—रचनामेंसे पाठक क्या पाता है? क्या कविने जो अनुभव किया है उसका संवेदन पाठकको होता है? या वह अनुभव फिर नये सिरेसे पाठकके मनमें पुनः रचित होता है? या पाठकके मर्म कवितासे आ जाता है यह कोई तीसरा ही अनुभव है?

बहुत महत्त्वपूर्ण हैं ये प्रश्न—लेकिन इनसे कथाका दूसरा ही चरण प्रारम्भ होता है, जिसमें रचनाकार स्वतः तटस्थ जिज्ञासु मात्र रह जाता है क्योंकि वह अब स्वरचित कृति और पाठकके बीचसे हट गया है



प्रसृष्यु गाथा

प्रमथ्यु एक यूनानी पुराण-पुरुष है जो सृष्टिके आरम्भमें पहली बार स्वर्गसे, द्यपितरके महलासे मनुष्योंके त्राणके लिए अग्नि हर लाया था। दण्डस्वरूप द्युपितरने उसे एक शिलासे बँधवा दिया था और एक गिद्ध निरंतर उसके हृदयपिण्डको खाते रहनेके लिए तैनात कर दिया गया था। प्रस्तुत रचनामें प्रमथ्यु, द्यपितर, अग्नि, गिद्ध सभी अपना अपना वक्तव्य प्रस्तुत करते हैं।

प्रमथ्यु गाथा

प्रमथ्यु

जकड़े हुए हैं ये मेरे हाथ
लौह शृंखलाओं से
जड़ी हुई जो कीलों से
इस आदिम चट्टान से,

टूटी हुई है पसलियाँ
और मन का घाव
अन्दर का सारा दर्द
नगा अनावृत है

द्युपितर की आज्ञा से
नरभक्षी बूढा गृद्ध
मेरे कधो पर बैठ
दिन भर नोचा करता है मेरा हृदयपिण्ड
और मै बेदम हूँ
बन्दी हूँ।

मैने, क्योकि मैने ही
प्रथम बार साहस किया
द्युपितर के महलो से अग्नि छीन लाने का

अन्धी घाटी म भयभीत भेड के समान
पृथ्वी यह
अँधियारे मे थी सहमी खडी

मैने, हॉ मैने ही प्रथम बार साहस किया

द्युपितर

साहस नहीं था,
मैने जो नक्शा बनाया था
मानव अस्तित्व का--
उसमें थी दासता,
विनय थी, कायरता थी
भय था, आतक था
अधेग था

यह जो
इस व्यक्ति ने
अन्धेरे को देकर चुनौती
दुस्साहस किया
यह मेरी सत्ता का प्रथम अनादर था

मैंने इसे दण्ड दिया
वर्जित थी ज्योति
 और गर्हित था स्वातन्त्र्य
 साहस उत्पन्न ही नहीं था किया मैंने तब
 इसकी यह लाई हुई आग
 अगर साहस बन फैल गई होती मनुष्यों में
फिर ये उठाते सर
फिर फिर से उठाते सर

जन-साधारण

मूरख बड़ा है जी !
हम क्यों उठाते सर
हम क्यों ये सब साहस करते व्यर्थ
अग्नि जिसे लाना था ले आया !

 अग्नि नहीं थी जब
 तब हमने कहा कहा
 कि जाओ अग्नि लाओ तुम

और अग्नि जब आई
हमने नहीं कहा कि अग्नि नहीं लेंगे हम।

यह जो हम अब भी खड़े हैं
प्रमथ्यु के आसपास—
इसलिए नहीं कि हम कुछ
उसके अनुगामी हैं,

हम हैं तमाशबीन
देख रहे हैं कैसे जकड़ा हुआ है शिलाओं से
कैसे वह कन्धे पर बैठा हुआ गिद्ध
नोच नोच खाता है उसका हृदयपिण्ड
और रात ढलते-ढलते कैसे
सारा घाव फिर से पुर जाता है
ताकि गिद्ध फिर नोचे

यह है करिश्मा और
हम सब करिश्मों के प्यासे हैं।
चाहता अगर तो हम में से हर एक व्यक्ति
अपने ही साहस से प्रमथ्यु हो सकता था
लेकिन हम डरते थे,
ज्योति चाहते थे
पर दण्ड भोगने से हम डरते थे।

हम सब करिश्मों के प्यासे हैं
कोई भी करिश्मा कर दिखलाये

हम खुद क्यों लें कोई भी निर्णय
हम खुद क्यों भोगें कोई भी दण्ड ?

अग्नि

वे थे सब स्वार्थी
विलासी थे, कायर थे
जिनके महलों में मैं बन्दी थी

मुक्त किया मुझको प्रमथ्यु ने

उसने कहा
तुम हो ज्योति
तुम्हीं जीवन हो

माथे से अपने लगा कर प्रमथ्यु ने
फेंक दिया फिर मुझको इन कायरों के बीच

मुझसे ये
सुबह शाम चूल्हा सुलगायेंगे
शय्या गरमायेंगे
सोना गलायेंगे
और ज़रा सा मौक़ा पाते ही
अपने पड़ोसी का सारा घर फूकेंगे !

मुझको क्यों मुक्त किया
मुझको क्यों माथे से लगा कर
फिर फेंक दिया इन कायरों के बीच !

और अग्नि जब आई
हमको जरा पता कि अग्नि नहीं लगे हम !

यह जो हम अब भी खड़े हैं
प्रमथ्यु के आसपास—
इसलिए नहीं कि हम कुछ
उसके अनुगामी हैं,

हम हैं तमाशबीन
देख रहे हैं कैसे जकड़ा हुआ है शिलाओं से
कैसे वह कंधे पर बैठा हुआ गिद्ध
नोच नोच खाता है उसका हृदयपिण्ड
और रात ढलते-ढलते कैसे
सारा घाव फिर से पुर आता है
ताकि गिद्ध फिर नोचे

यह है करिश्मा और
हम सब करिश्मों के प्यासे हैं !
चाहता अगर तो हम में से हर एक व्यक्ति
अपने ही साहस से प्रमथ्यु हो सकता था
लेकिन हम डरते थे,
ज्योति चाहते थे
पर दण्ड भोगने से हम डरते थे !

हम सब करिश्मों के प्यासे हैं
कोई भी करिश्मा कर दिखलाये

हम खुद क्यों लें कोई भी निर्णय
हम खुद क्यों भोगें कोई भी दण्ड ?

अग्नि

वे थे सब स्वार्थी
विलासी थे, कायर थे
जिनके महलों में मैं बन्दी थी

मुक्त किया मुझको प्रमथ्यु ने

उसने कहा
तुम हो ज्योति
तुम्हीं जीवन हो

माथे से अपने लगा कर प्रमथ्यु ने
फेंक दिया फिर मुझको इन कायरों के बीच

मुझसे ये
सुबह शाम चूल्हा सुलगायेंगे
शय्या गरमायेंगे
सोना गलायेंगे
और ज़रा सा मौका पाते ही
अपने पड़ोसी का सारा घर फूँकेंगे !

मुझको क्यों मुक्त किया
मुझको क्यों माथे से लगा कर
फिर फेंक दिया इन कायरों के बीच !

मुझको मालूम नहीं था कुछ भी
डूबा था सब कुछ अँधियारे में
अँधियारे में मैं भी डूबा था

अग्नि किसे कहते हैं
इसका आभास भी नहीं था मुझे

गिद्ध यह बैठा है जो मेरे कंधों पर
ऊपर उड़ते-उड़ते पहली बार इसने देखी थी
झलक अग्नि की।

साहस था मेरा
किन्तु युपितर के महलों की गुप्त राह
इसने बताई मुझे—
गुरुजन है।
सच है यह
मेरे कंधों पर बैठ
नोच-नोच खाता है यह मेरा हृदयपिण्ड
फिर भी मेरा मस्तक नत है
होंठों को भींचे निश्शब्द सह रहा हूँ मैं
क्योंकि यह बूढ़ा गृद्ध गुणी है, ज्ञाता है।

मस्तक नत है मेरा
इसलिए नहीं कि हूँ पराजित मैं

इसलिए कि जिनके हित अग्नि जीत लाया हूँ
उनमें नहीं है साहस या संवेदना
जिनमें नहीं है साहस प्रमन्यु बनने का
उनको बिना पीड़ा के मिल जाने वाली अग्नि
मानवी नहीं है
और पशु ही बनाती है!
अग्नि मिलने पर भी
वे सब पशु के पशु हैं
जिनको नृशंस स्वाद आता है
मेरी इस मर्मान्तक पीड़ा में!
देता है जो वृद्ध गिद्ध
मेरे ही कन्धों पर बैठकर

वृद्ध

कटु मत हो
सुनो वत्स!
शोभा नहीं देती है कटुता प्रमन्यु को
सच है यह
मैंने ही प्रेरित किया था तुम्हें देव-अग्नि लाने को
क्योंकि धरा पर नीचे गहरा अँधियारा था

जीवन भर मैंने आकाश में
निरर्थक चक्कर काटे
ऊँचे पर्वत, ऊबड़ खाबड़ घाटी वाली

धरती पर कैसे उतरता मैं ?
नीचे अँधियारा था

अब मैं हूँ बूढ़ा
और मेरे थके हैं पंख
कब तक आकाश में विहार करूँ
सिवा तुम्हारे इन सबल पुष्ट कंधों के और कहाँ बैठूँ मैं ?
कटु मत हो !
आहत है मेरा अहम्
मेरे ये पंख और मैंने देखी थी अग्नि
मैं भी ला सकता था
किंतु एक थोड़े से साहस के बगैर
मैं अग्नि जीत लाने से वंचित रहा

तुम हो मेरे प्रियजन
मेरा यह आहत अहम्
अगर तुम्हारे मांसपिण्ड से बुझाता है
अपनी भूख
तो तुम क्या इतना भी नहीं सहोगे मेरे लिए

सुनो वत्स !
मुझको यदि मानते हो गुरुजन
तो बात सुनो
सहते चलो सब दुख
माथे पर शिकन नहीं लाना कभी
मन में घृणा नहीं लाना कभी
घृणा पाप जन्य है

जो नसों में प्रवाहित
रक्त को दूषित करता है
और वह रक्त
वह तुम्हारा रक्त
अन्ततोगत्वा मुझको ही तो पीना है !

गुम्नाम हो
मेरी शिराओं में रक्त बह रहा है तुम्हारा ही
जी भर पियो !

पशु मैं नहीं हूँ
घृणा किससे करूँगा मैं

ये जो जन हैं, साधारण जन हैं
इनमें से एक-एक के अन्दर
मूर्छित प्रमन्यु कहीं बन्दी है !
अवसर जिसे मिला नहीं साहस कर पाने का

कोई तो ऐसा दिन होगा
जब मेरे ये पीड़ा-सिक्त स्वर
उसके मन को वेध मूर्छित प्रमन्यु को जगायेंगे !

उस दिन
हाँ, उस दिन
अकेला मै रहूँगा नहा
सबके हृदयों मे मै जागूँगा
मै—प्रमन्यु
रूठ मै नहीं हूँ
घृणा किससे करूँगा मै ?

नया रस

प्रभु
इस रस को
इस नये रस को क्या कहते हैं?

जिसमें शृंगार की आसक्ति नहीं
जिसमें निर्वेद की विरक्ति नहीं

जिसमें बाहों के
फूलों जैसे बन्धन के
आकुल परिरम्भण की गाढ़ी तन्मयता के क्षण में भी
ध्यान फटा और चला जाता है
तन पिघले फूलों की
आग पिया करता है
पर मन में कई प्रश्नचिह्न उभर आते हैं

यह सब क्या है ?
क्यों है ?
इसके बाद
—और बाद
—और बाद
—और बाद
फिर क्या है ?
चुम्बन आलिंगन का जादू
मन को जैसे ऊपर ही ऊपर से छूकर रह जाता है

अन्दर ज़हरीले अजगर जैसे प्रश्नचिह्न
एक एक पसली को जकड़-जकड़ लेते हैं
फिर भी बेक़रार तन
इन पिघले फूलों की रसवंती आग बिना
चैन नहीं पाता है
प्रभु,
इस रस को
इस नये रस को क्या कहते हैं ?

नवम्बर की दोपहर

अपने हल्के फुल्के उड़ते स्पर्शों से मुझको छू जाती है
जार्जेट के पीले पल्ले सी यह दोपहर नवम्बर की !

आईं गईं ऋतुएँ पर वर्षों से ऐसी दोपहर नहीं आई
जो क्वाँरेपन के कच्चे छल्ले सी

इस मन की उँगली पर
कस जाये और फिर कसी ही रहे
नितप्रति बसी ही रहे, आँखों में, बातों में, गीतों में
आलिंगन में घायल फूलों की माला सी
वक्षों के बीच कसमसी ही रहे

भीगे केशों में उलझे होंगे थके पंख
सोने के हंसों सी धूप यह नवम्बर की
उस आँगन में भी उतरी होगी
सीपी के ढालों पर केसर की लहरों सी
गोरे कन्धों पर फिसली होगी निन आहट
गदराहट बन बन ढली होगी अंगों में

आज इस वेला में
दर्द ने मुझको
और दुपहर ने तुमको
तनिक और भी पका दिया
शायद यही तिल तिल कम पन्ना रह जायेगा
सांझ हुए हंसों सी दुपहर पाँखें फैला
नीले कोहरे की झीलों में उड़ जायेगी
यह है अनजान दूर गाँवों से आई हुई
रेल के किनारे की पगडंडी
कुछ क्षण संग दौड़ दौड़
अकस्मात नीले खेतों में मुड़ जायेगी

फागुन के दिन की एक अनुभूति

फागुन के सूखे दिन
क़स्बे के स्टेशन की धूलभरी राह बड़ी सूनी सी
ट्रेन गुज़र जाने के बाद
पके खेतों पर ख़ामोशी पहले से और हुई दूनी सी

आँधी के पत्तों से
अनगिन तोते जैसे टूट गिरे
लाइन पर, मेडों पर, पुलिया के आस-पास
(सब कुछ निस्तब्ध, शान्त मूर्छित सा
अकस्मात --)
चौकन्नी लोखरिया उछली
औ' तेज़ी से तार फाद लाइन कर गई क्रास

जैसे शीशे में चटख़े दरार
सहसा यह मुझको एहसास हुआ—
यह सब है और किसी का
यह पगडण्डी, यह गाँव-खेत, सुग्गों के हरे पख,
गति, जीवन
सबका सब और किसी का

मेरा है केवल निर्वासन, निर्वासन, निर्वासन

उत्तर नही हूँ

उत्तर नहीं हूँ
मै प्रश्न हूँ तुम्हारा ही।

नये नये शब्दों मे तुमने
जो पूछा है बार बार

पर जिस पर सब के सब केवल निरुत्तर हैं
प्रश्न हूँ तुम्हारा ही !

तुमने गढ़ा है मुझे
किन्तु प्रतिमा की तरह स्थापित नहीं किया
या
फूल की तरह
मुझको बहा नहा दिया
प्रश्न की तरह मुझको रह-रह दोहराया है
नई नई स्थितियों में मुझको तराशा है
सहज बनाया है
गहरा बनाया है
प्रश्न की तरह मुझको
अर्पित कर डाला है
सबके प्रति

दान हूँ तुम्हारा मैं
जिसको तुमने अपनी अंजलि में बाँधा नहीं
दे डाला !

उत्तर नहीं हूँ मैं
प्रश्न हूँ तुम्हारा ही !

जिज्ञासा

मणिशय्या पर जल-बालाओं का प्यार
या सागर का विष-मन्थन अपरम्पार
क्या पायेंगे
प्रभु,
हम क्या पायेंगे ?

आखिर आयेगा वह दिन
जिस दिन होठों पर यद्यपि होंगे होठ
पर खाई होगी हम दोनों के बीच
जिस दिन बाँहों में यद्यपि होगी बाँह
पर सब रस सहसा कोई लेगा खींच

जिस दिन यह सारा आकुल प्रणयोन्माद
रह जायेगा केवल पिछला अभ्यास
जिस दिन यद्यपि तन होगा तन में लीन
पर मुर्दा होगी मन की सारी प्यास

उस दिन होगा फिर यह सिद्ध
वैयक्तिक सीमा में बद्ध—
जितना झूठा है यह दुख
उतना ही झूठा है सुख

सुख दुख इन दोनों के पार
क्या पायेंगे
प्रभु
हम क्या पायेंगे ?

वैयक्तिक सीमाएँ तोड़
इतिहासों के संग गति मोड़
जिस दिन हम युग-पथ पर जन-जन के साथ
बढ़ते होंगे फिर दृढ़ पग, उन्नत-माथ
हम सब के होठों पर सामूहिक गीत
गतियों की वल्गा जन-नायक के हाथ

आयेगा ऐसा भी दिन
जब नायक की कोई छोटी सी भूल
सारे अभियानों को करदे पथभ्रष्ट—
युगव्यापी सपनों पर पड़ जाये धूल
आत्मा में केवल अँधियारा औ' कष्ट,

डूबे या हमको तज कर तट के पास
मन्थर गति से बढ़ जायेगा इतिहास
सामूहिकता भी केवल
साबित होगी जिस दिन छल

अपनी वैयक्तिकता हार
क्या पायेंगे
प्रभु,
हम क्या पायेंगे ?

लेकिन इन दोनों के बीच
मेरे ये तीखे पर एकाकी स्वर
केवल सच्चाई का आश्रय लेकर
गूँजेंगे, या रव में खो जायेंगे
या ये स्वर पहुँचेंगे जन-मन के द्वार

रञ्जित माथे पर काँटों का सिंगार
या मंगल वादन, जयध्वनि, वन्दनवार
क्या पायेंगे
प्रभु,
हम क्या पायेंगे ?

संक्रान्ति

सूनी सड़कों पर ये आवारा पाँव
माथे पर टूटे नक्षत्रों की छाँव

कब तक
आखिर कब तक ?

चिन्तित माथे पर ये अस्तव्यस्त बाल
उत्तर, पश्चिम, पूरब, दक्खिन-दीवाल

कब तक
आखिर कब तक ?

लड़ने वाली मुट्ठी जेबों में बन्द
नया दौर लाने में असफल हर छन्द

कब तक
आखिर कब तक ?

पराजित पीढ़ी का गीत

हम सब के दामन पर दाग
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तल्वारों की मूठ।

हम थे सैनिक अपराजेय
पर हम थे बेदम लाचार
यह था कठपुतलों का खेल
ऊपर थी गर्दें, पर लकड़ी के थे सब हथियार!

हम मचले थे अपने गीत
आखिर तक गाने की शर्त
पर जाने कैसे कैसे बदले बोल—
हमने गाया युद्ध, पर युद्ध निकला अर्थ!

तुम क्या जानोगे ओ प्रभु!
उसके मन का कटु विक्षोभ
जिसकी निष्ठा के आगे
गर्हित था छोटे से छोटे समझौते का लोभ!

तुमने कब झेली संक्रांति
तुम क्या समझोगे ओ प्रभु!
इन गत्यवरोधों का दर्द—
कैसे तरुणाई में ही
घुट मर जाते हैं विश्वास
प्राणों की समिधाएँ जम कर हो जाती हैं सर्द!

फिर भी यदि तुमको मंजूर
हमको भटकाओ युद्ध ओर
यदि तुमको फिर भी मंजूर
सच्चाई की बाँहों में हम सब पायें मत ठौर,

तो कम से कम करुणामय
इतना तो दो ही वरदान
दो हमको फिर झूठे लक्ष्य
दो हमको फिर झूठे युद्धों का झूठा मैदान !

तुम क्या जानोगे ओ प्रभु
संघर्षों के ही अभ्यासी ये प्राण
हो जाते कितने बेचैन
छिन जाते हमसे जब शस्त्र, छिन जाते ईमान !

दो हमको फिर झूठे युद्ध
दो हमको फिर झूठे ध्येय
हारेंगे फिर यह है तय
फिर उसको मानेंगे हम प्रभु की हार
अपने को मानेंगे फिर अपराजेय !

हम सबके दामन पर दाग
हम सबकी आत्मा में झूठ
हम सबके माथे पर शर्म
हम सबके हाथों में टूटी तलवारों की मूठ !

हम सब सैनिक अपराजेय !

कौन चरण ?

जिस दिन
अपनी हर आस्था तिनके सी टूटे
जिस दिन
अपने अन्तरतम के विश्वास सभी निकलें झूठे,

उस दिन होंगे
वे कौन चरण
जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण ?

जब हम पर छाये भ्रम दोहरा
जर्जर तन पर कल्मष, हारे मन पर कोहरा
हर एक सूत्र जिसको समझे हम प्रभु का स्वर
कसने पर जिस दिन साबित हो शब्दाडम्बर
हर कदम पड़े झूठा
जैसे चौसर का पिटा हुआ मोहरा

उस दिन
होंगे वे कौन चरण
जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण ?

जिनकी लय पर
साधे हमने आत्मा के स्वर
वे अकस्मात् मुड़ जिस दिन पथ गह लें दूजा
अन्तर में घुटती रह जाये टूटी पूजा
माथे के नीचे रह जाये ठण्डा पत्थर

उस दिन
होंगे वे कौन चरण
जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण ?

सब जलने पर जो शेष रहे कण भर सोना
काँपती उँगलियों से हमको जिस रोज़ पड़े वह भी खोना
अपनी साँसें तक भूलें जब अपना परिचय
पाँवों नीचे तक की धरती जिस रोज़ न दे हमको आश्रय
जब हम गिरने दौड़ें मुड़ अपने मन का कोना कोना

उस दिन
होंगे वे कौन चरण
जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त में शरण ?

"उस दिन
मैं दूँगा तुम्हें शरण
मैं जनपथ हूँ
मैं प्रभुपथ हूँ, मैं हूँ जीवन
जिस क्षितिज रेख पर पहुँच व्यक्ति की राहें झूठी पड़ जातीं
मैं उस सीमा के बाद पुनः उठने वाला नूतन अथ हूँ
मैं प्रभुपथ हूँ
जिसमें हर अन्तर्द्वन्द्व, विरोध,
विषमता का
हो जाता है अन्त में शमन।"

"प्रभु !
पर तुम तो केवल पथ हो
चलना तो हमको ही होगा
हिम की ठण्डी चट्टानों पर

चलना तो हमको ही होगा
सब टूटे और अधूरे हम
इस जनपथ को
इस प्रभुपथ को
कर पायेंगे किस तरह ग्रहण ?

हमको कुछ ऐसा लगता प्रभु
ऐसे कोई भी नहीं चरण
जिनमें मिल पाये हमें शरण
तुम भी केवल निष्क्रिय पथ हो

चलना तो हमको ही होगा
चलने मे ही हम टूटों और अधूरों का
शायद कुछ होगा नया गठन
आश्रय देंगे हमको अपने
जर्जर पर अपराजेय चरण

आखिर होंगे वे यही चरण
जिनमें इस लक्ष्यभ्रष्ट मन को
मिल पायेगी अन्त मे शरण !"

इनका अथ

ये शामें, ये सब की सब शामें
जिनमें मैंने घबरा कर तुमको याद किया
जिनमें प्यासी सीपी-सा भटका विकल हिया
जाने किस आने वाले की प्रत्याशा में
ये शामें
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?

ये लमहे, ये सारे सूनेपन के लमहे
जब मैंने अपनी परछाहीं से बातें का
दुख से वे सारी टूटी वीणाएँ फेंकी
जिनमें अब कोई भी स्वर न रहे
ये लमहे,
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?

ये घड़ियाँ—ये बेहद भारी-भारी घड़ियाँ
जब मुझको फिर यह एहसास हुआ
अर्पित होने के अतिरिक्त और राह नहीं
जब मैंने झुक कर फिर माथे से पथ छुआ
फिर बीनी गत-पग-नूपुर से बिखरी मणियाँ
ये घड़ियाँ
इनका क्या कोई भी
अर्थ नहीं ?

ये घड़ियाँ, ये शामें, ये लमहे
जो मन पर कोहरे से जमे रहे
निमित होने के क्रम में
क्या
इनका कोई अर्थ नहीं ?

जाने क्यों कोई मुझसे कहता
मन में कुछ ऐसा भी है रहता
जिसको छू लेने वाली कोई भी पीड़ा
जीवन में फिर जाती व्यर्थ नहीं !

अर्पित है पूजा के फूलों सा जिसका मन
अनजाने दुख कर जाता उसका परिमार्जन
अपने से बाहर की व्यापक सच्चाई को
नतमस्तक होकर यह कर लेता सहज ग्रहण

ये सब बन जाते पूजागीतों की कड़ियाँ
यह पीड़ा, यह कुण्ठा, ये राग, ये घड़ियाँ
इनमें से क्या है
जिसका कोई अर्थ नहीं ?
कुछ भी तो व्यर्थ नहीं !

गैरिक वाणी

मेरी वाणी
गैरिक वसना
भूल गई गोरे अंगो को
फूलो के वसनो मे कसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी !

अब विरागिनी
मेरा निज दुख, मेरा निज सुख
दोनों से तटस्थ रागिनी
अब विरागिनी
मेरी वाणी !

चन्दन शीतल,
पीडा से परिशोधित स्वर मे
उभरा एक नवीन धरातल
चन्दन शीतल
मेरी वाणी

भटके हुए व्यक्ति का संशय
इतिहासों का अन्धा निश्चय
ये दोनों जिसमें पा आश्रय
बन जायेंगे सार्थक समतल

ऐसे किसी अनागत पथ का
पावन माध्यम भर है
मेरी आतुल प्रतिभा
अर्पित रसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी

जल सी निर्मल
मणि सी उज्ज्वल
नवल, स्नात
हिम धवल
ऋजु
तरल
मेरी वाणी।

केवल तन का रिश्ता

अब यह जूही के फूलों का तन नहीं रहा

हिरन की छलांगों जैसा हल्का फुर्तीला
लहरों में बल खाती किरनों-सा लचकीला
अब यह जूही के फूलों का तन नहीं रहा
पर जाने क्यों
यह पहले से अधिक सुन्दर है
जाने क्यों इसमें पहले से अधिक जादू है

अब इसमें ममता है
अब इसका रोम रोम
तृष्णाओं, झगड़ों, समझौतों, मनुहारों की
जाने कितनी मीठी स्मृतियों से बसा हुआ

कितनी बार चिन्ता से जलते हुए माथे को
इस तन में आश्रय मिला
कोमल हमदर्दी मिली
इस तन ने कितनी बार
प्रांजल, पवित्र स्नेह
मेरे हारे आकुल पर मन बिखेरा है
अब इसमें पहले से
कहीं अधिक ममता है
रस है
अपनापन है।

तन का—
केवल तन का रिश्ता भी
मांसलता से कितना ऊपर उठ जाता है

अब यह जूही के फूल सा तन नहीं रहा
पर इसमें पहले से कहीं अधिक जादू है!

मेघ—दुपहरी

ढल रही है
मेघ की चूनर लपेटे दोपहर
एक उचटा हुआ सा
सुनसान सन्नाटा अकेला जग रहा है
मेघ धूमिल दिशाओं की बाँह में !

न जाने क्यों
आज यह अपना
बहुत परिचित बहुत प्यारा शहर
अजनबी, अनजान, अन्यमनस्क सा लग रहा है
बादलों की नील-जमुनी छाँह में ।

वही मैं हूँ
वही मेरा वीतरागी मन
नहीं अब जिसमें किसी से
खास कोई नेह, कोई लगाव
किन्तु फिर क्यों चित उचटता काम से ?
क्यों उदासी और बढ़ती शाम से ?

छू गई मुझको
न जाने कौन बिसरी बात
भूला क्षण
जिस तरह छू जाय नागिन
फूल को खिलते पहर
ढल रही है
मेघ की चूनर लपेटे दोपहर !

प्लेटफार्म

बहुत उदास सा पीले गुलाब सा चेहरा
हथेलियो में टिका हुआ गुमसुम

सुनो इतनी अजीब सी क़िस्मत
ले के पैदा हुये थे क्यों हम तुम ?

इतने दिन बाद

एक अजनबी को देख
आँगन में नहाती हुई गौरैया भागी
और झुरमुट में छिप कर व्याकुलता से चहकी ,

मुझको पहचान आज
आज इतने दिनों बाद देख
थाले की जूही कुछ डोली, उदासी से महकी ,

सिर्फ एक तुम थीं
जो हिलीं नहीं, डुलीं नहीं
ज़ीने पर खडी रहीं
यादों में डूबी सी, ख्यालों में बहकी ।

कस्बे की शाम

झुरमुट में दुपहरिया कुम्हलाई
खेतों पर अन्हियारी घिर आई
पश्चिम की सुनहरिया घुघराई

टीलों पर, तालों पर,
इक्के-दुक्के अपने घर जाने वालों पर
धीरे धीरे उतरी शाम !

आँचल से छू तुलसी की थाली
दीदी ने घर की ढिबरी बाली
जमुहाई ले लेकर उजियाली,

जा बैठी ताखों में,
घर भर के बच्चों की आँखों में
धीरे धीरे उतरी शाम !

इस अधकच्चे से घर के आँगन
में जाने क्यों इतना आश्वासन
पाता है यह मेरा टूटा मन

लगता है इन पिछले वर्षों में
सच्चे-झूठे, मीठे कड़वे सपनों में
इस घर की छाया थी छूट गई अनजाने
जो अब झुक कर मेरे सिरहाने—
कहती है
"भटको बेबात कहीं !
लौटोगे अपनी हर यात्रा के बाद यहीं !"

धीरे धीरे उतरी शाम !

धूलभरी आँधी का गीत

ओ रे
धूल भरे पवन झकोरे !

तेरे हाथों बिल्कुल बेबस हूँ मैं
जैसे चाहे तू ने हरदम खींचे डोरे !

आज गया तू पिछली यादें झकझोर—
पहला पहला घायल मन, वय कैशोर
ऐसी थी, बिल्कुल ऐसी ही थी शाम
सूने चौराहों पर आँधी का शोर

आँधी ही सी थी जो निकल गयी
शेष रहे उखड़े सिरे, टूटी टार
उस दिन जो बहका तो आज तक
न पहुँच सका मैं अपने ही घर के द्वार
झूठे आलिंगन से, झूठे आलिंगन तक
यूँ मैं भटका कितनी बार!

अब तो पग जर्जर, राहें नामालूम
आ मेरे बालों को बिखरा कर चूम
मुझ पर कर टूटे पत्तों की बौछार
कसकन से भर मेरी पलकें मासूम

जाने क्या है तुझमें जिसके आगे फीके
लगते हैं अंगों के जादू गोरे

पतझड़ की संझा को
पाहुन बन कर आ,
ओ सूखे मुँह, धूल भरे पवन झकोरे!
ओऽऽऽरे!

आँगन

बरसों के बाद उसी सूने से आँगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना
रिसती सी यादों से पिरा पिरा उठना
मन का कोना कोना

कोने से फिर उन्हा सिसकियों का उठना
फिर आकर बातों में खो जाना
अकस्मात मण्डप के गीतों की लहरी
फिर गहरा सन्नाटा हो जाना
दो गाढ़ी मेंहदी वाले हाथों का जुड़ना,
कँपना, बेबस हो गिर जाना

रिसती सी यादों से घिरा घिरा उठना
मन का कोना कोना
बरसों के बाद उसी सूने से आंगन में
जाकर चुपचाप खड़े होना !

अवशिष्ट

दुख आया
घुट घुट कर
मन मन में खीज गया

सुख आया
लुट लुट कर
कन कन में छीज गया

क्या केवल
इतनी पूँजी के बल
मैंने जीवन को ललकारा था

वह मैं नहीं था, शायद वह
कोई और था
उसने तो प्यार किया, रीत गया, टूट गया
पीछे मैं छूट गया

उपलब्धि

मैं क्या जिया ?
मुझको जीवन ने जिया—
बूँद बूँद कर पिया, मुझको
पीकर पथ पर खाली प्याले सा छोड़ दिया

मै क्या जला ?
मुझको अग्नि ने छला—
मै कब पूरा गला, मुझको
थोडी सी आँच दिखा दुर्बल मोमबत्ती सा मोड़ दिया

देखो मुझे
हाय मै हूँ वह सूर्य
जिसे भरी दोपहर में
अँधियारे ने तोड दिया !

स्वयम् को दुहरायेगा ?

प्यार यह क्या अब कभी भी स्वयम् को दुहरायेगा ?
नहा ! शायद नहीं

होठ पर अब होठ जब भी आयेगा
आँसुओं का वही खारा स्वाद फिर-फिर पायेगा

हाथ में जब हाथ कोई आयेगा
उष्ण ममता नहा केवल एक खालीपन उसे छू जायेगा

बाँह मे जब जिस्म कोई आयेगा
बीच में तुमको सिसकता पायेगा

प्यार यह क्या अब कभी भी स्वयम् को दुहरायेगा
नहीं ! शायद नहीं

साबुत आइने

इस डगर पर मोह सारे तोड़
ले चुका कितने अपरिचित मोड़

पर मुझे लगता रहा हर बार
कर रहा हूँ आइनों को पार

दर्पणों में चल रहा हूँ मैं
चौखटों को छल रहा हूँ मैं

सामने लेकिन मिली हर बार
फिर वही दर्पण मढ़ी दीवार

फिर वही झूठे झरोखे द्वार
वही मगल चिह्न बन्दनवार

किन्तु अंकित भीत पर, बस रग से

× × ×

अनगिनत प्रतिबिम्ब हँसते व्यग से

फिर वही हारे कदम की होड़
फिर वही झूठे अपरिचित मोड़

लौट कर फिर लौटकर आना वहा
किन्तु इससे छूट भी पाना नहा

टूट सकता, टूट सकता काश
यह अजब सा दर्पणों का पाश

दर्द की यह गाँठ कोई खोलता
दर्पणों के पार कुछ तो बोलता

यह निरर्थकता सही जाती नहीं
लौट कर, फिर लौट कर आना वहीं

रात में कोई न रत्न पाऊँगा
अन्त में मैं क्या यहीं बच जाऊँगा

बिम्ब टूटे आइनों में भटका हुआ
चौखटों के भाल पर लटका हुआ

रात अँधियारी हवा तेज

ढीग नहीं पडते है पेड,
मगर डालो से ध्वनियो के
अगणित झरने झरते झर-झर
तेज़ और मद
हर झकोरे के सग
हवा चलती है और ठहर जाती है !

सन्नाटा
गूँगे के अनबोले वाक्य सा—
जाग्रत है यह मेरा मन
पर निरर्थक है !

ट्रेन न भीगी थी
दूर कहाँ लोग अभी जीवित हैं
चलते हैं, यात्राएँ करते हैं, मंज़िल है उनकी।

याद पड़ता है कभी
बहुत मुद्दत पहले के पहले
मैंने भी एक यात्रा की थी।
कच्ची पगडण्डी पर
पेड़ों और सरपत के झाड़ों में
इसी तरह,
तेज़ हवा चलती थी और ठहर जाती थी

भीगी फिर बोली
सुनो ! मेरे मन हारे मन !
दूर कहाँ लोग अभी जीवित हैं,
यात्राएँ करते हैं, मंज़िल है उनकी

क्योंकि
कल भी हम मिलेंगे
हम चलेंगे
हम उगेंगे

और
वे सब साथ होंगे
आज जिनको रात ने भटका दिया है !

निर्माण-योजना

[कविता की मिनिस्ट्री द्वारा प्रस्तुत]

१ बाँध

बाँधो !
नदी यह घृणा की है
काली चट्टानों के

सीने से निकली है
अन्धी जहरीली गुफाओं से
उबली है !

१

इनको छूने से।
हरे वृक्ष सड़ जायेंगे
नदी यह घृणा की है

लेकिन नहीं है निरर्थक यह
बाँधने से इसको भी अर्थ मिल जाता है।
इसकी ही लहरों में
जिन्दगी के शक्तिमान पौधे हैं सोये हुए!
जोतो उन्हें खेतों में, रुको मत—
भेजो उन्हें नगरों में फेंको मत—

बदलो घृणा को उजियाले में
ताकत में,
नये-नये रूपों में साधो—
बाँधो—
नदी यह घृणा की है!

२ *यातायात*

बिना किसी बाधा के
नित नयी दिशाओं में
जाने की
सुविधा दो

बिना किसी बाधा के
श्रम के पसीने से
सिंची हुई फसलों को
खेतों से आँतों तक जाने की
सुविधा दो

बिना किसी बन्धन के
हर चलते राही को
यात्रा में
अक्सर थक जाने पर
मन चाहे नये गीत गाने की
सुविधा दो

कभी-कभी अजब-सी रहस्यमय पुकारों पर
मन को अपरिचित नक्षत्रों की राहों में
जाकर खो जाने की सुविधा दो !

२ कृषि

ये फसलें काटो
पिछले ज़माने में
बीज जो बोये विषमता के
आज वही साँपों की खेती उग आई है !

धरती को फिर से सँवारो
क्यारी में बीज नये डालो
पसीने के, आँसू के
प्यार के, हमदर्दी के

मेड़ें मत बाँधो
भूमि सब की,
दर्द सबका है !

४ स्वास्थ्य

ये सब बीमार हैं
ये जो उन्मादग्रस्त रोगी से
मंचों पर जाकर चिल्लाते हैं
बकते हैं
भीड़ में भड़कते हैं

वात पित्त कफ के बाद
चौथे दोष अहम् से पीड़ित हैं !

बस्ती-बस्ती में
नये अहम् के अस्पताल खुलवाओ
ये सब बीमार हैं
डरो मत—तरस खाओ !

गुलाम बनाने वाले

और भी पहले वे कई बार आये हैं

एक बार
जब उनके हाथों में भाले थे
घोड़ों की टापों से ख़ैबर की चट्टानें काँपी थीं

एक बार
जब भालों के बजाय
उनके हाथों में तिजारती परवाने थे
बगल में संगीनें थीं

नदिया इस बार और चुपके से आते है

आते है, जिनके हाथो मे है
कैमरे,
थैलियाँ,
हर्मेटिक पार्सलें,
रंग बिरंगी फिल्में

आते है जिनके पास
रंग बिरंगे चोगे
[जिनसे वे हुक्म के मुताबिक रूप बदलते है]
झोले वाले
[दूर किसी नगरी म छपे हुए]
पैम्फ्लेट,
रोटी और पैम्फ्लेट के ढंग म ढँक-ढँक कर आई है
दूर किसी नगरी म ढली हुई जंजीरे !

ढंग है नया
लेकिन बात यह पुरानी है
पोथों पर रख कर, या थैलो म भर कर,
या रोटी मे ढँक कर, या फिल्मों म रंग कर
ये जंजीरें, केवल जंजीरें ही लाये है

और भी पहले न कई बार आये है !

एक वाक्य

चेक बुक हो पीली या लाल,
दाम सिक्के हों या शोहरत—
कह दो उनसे
जो खरीदने आये हों तुम्हें
हर भूखा आदमी बिकाऊ नहीं होता है !

बाणभट्ट

मिथ्या था जामुन के कुंजों से आच्छान्ति
शोण का निचाट कूल
मिथ्या था फागुन में गुच्छों-गुच्छों फूला
ईंगुरी अशोक-फूल

मिथ्या था, स्मृति के अन्तरिक्ष में डूबता छिपता हुआ
भट्टिनी का म्लान मुख
मिथ्या था, अपने को किसी महाराग को समर्पित कर
डूब डूब जाने का अतीन्द्रिय सुख

सत्य है एक मणिजटित दुपट्टा, एक
मुद्रा-मंजूषा, एक पालकी !
सत्य हैं आत्मा पर थोपी हुई सीमायें
सोने के जाल की !
सत्य है कृतघ्नों, वधिकों, नगरसेठों, वेश्याओं के आगे
बिके हुए शब्दों की यह क्रीडा
सत्य है राजा हर्षवर्धन के हाथों से मिला हुआ
पान का सुगन्धित एक लघु बीड़ा

[चाहे वह जूठा हो,
पर उस पर लगा हुआ वर्कदार सोना था !
हाय बाणभट्ट ! हाय !
तुमको भी, तुमको भी, आख़िर यही होना था !]

बृहन्नला

आज से सौ बरस बाद
मेरी रचनाएँ पढ़ कर तुम यह जानोगे
इस संकटकाल में तो अर्जुन एक मैं ही था
अन्यायी हृदयों में सालती टंकारें थीं जिसके गांडीव की !
मैं ही दृष्टिहीनों की दुनिया में
आँखें खोल देखता रहा था यथार्थ को !

किंतु यदि वर्षों बाद मेरी रचनाएँ पढ़ने की जगह
मुझको आज देखो तुम—
तो कैसा लगेगा तुम्हें
मुझको यह जानने का कुतूहल है !

युद्धक्षेत्र, कर्मक्षेत्र में मुझको ढूँढ़ोगे व्यर्थ तुम
आज तो मिलूँगा मैं तुमको पराये अन्तःपुर में
चाटुकार विद्वानों, मूर्ख महिषियों
अशिक्षित विदूषकों से घिरा हुआ

मैं जो हूँ नृपति विराट का विश्वस्त दास
नृत्य, गीत, कविता, कलाओं का ज्ञाता,
किंतु हरदम भयाक्रान्त—
मेरा अज्ञातवास खुल न जाय
छिन न जाय मेरी आजीविका इसी भय से
पीछे सभी को धोखा देकर
सामने सभी के झूठी कसमें खाता हुआ ।

कानों तक प्रत्यंचा खींचने के लिए ख्यात
मेरी भुजाएँ ये
मिलेंगी हर छोटे-से-छोटे दरबारी के सामने
प्रणाम से झुकी हुई,
पाओगे तुम मेरा ओजस्वी सैनिक तन
कुत्सित नपुंसक मुद्राओं में ढला हुआ ,
मेरा विख्यात धनुष
तुमको मिलेगा किसी निर्जन तरु-शाखा पर
मुर्दा चिमगादड़ सा टँगा हुआ !

व्यास यह लिखेंगे कि
अन्यायी दुर्योधन ने जब हमला बोला था विराट नगरी पर
मैंने भी अपना प्रदर्शित किया था शौर्य !

कैसा लगेगा तुम्हें
जब तुम यह जानोगे
कि यह तो लिखाया था मैंने ही
सुबह शाम जा-जा कर
दुख की गाथा गा कर
पाँवों पड़-पड़ वृद्ध व्यास के !

असल में हुआ यह था
मेरे चारों भाई जूझते अकेले रहे
मैं तो किनारे खड़ा हर आने वाले से
घबरा कर कहता था—"इधर मत,
इधर मत, इधर मत, आना जी तुम, इधर हम तटस्थ हैं !"

कैसा लगेगा तुम्हें
जब तुम यह जानोगे
कि मैं तो गया था वहाँ
लड़ने के लिए नहीं—
रक्तसने, बेबस, दम तोड़ते शवों के
गहने कपड़े लूटने के लिए !

कैसा लगेगा तुम्हें
जब तुम यह जानोगे
कि दूसरे जब जूझ रहे थे नवयुग लाने का
मैंने सिर्फ उत्तरा की गुड़ियाँ सजाई थीं !

टूटा पहिया

मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत !

क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय !

अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
बड़े-बड़े महारथी
अकेली निहत्थी आवाज़ को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में
ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ !

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले !

एक अवतार में

सुनते हैं तुम किसी अवतार में कछुए थे

अपनी इस वज्रोपम पीठ पर
तुमने यह धरती टिकाई थी—
[लेकिन उपयोग क्या किया था
सुकोमल मर्मस्थल का ?

उसने क्या नीचे उतर
थाहा था अस्तित्व का सागर
पतनोन्मुख होकर

[निर्मम, निराशा, भटकन
घिन, कीचड़, काई
पाप, टकराई—
के स्तर छुए थे ?]

याद करो प्रभु,
जब तुमने पीठ पर
धरती उठाई थी—
सबका बोझ
अपने पर लेने की
ताक़त कहाँ पाई थी ?

दान प्रभु के नाम !

राह पर बिछाये है
मैंने जो—
तीखे नुकीले—ये
पूजा के फूल नहीं
शीशे के टुकड़े हैं—

८

पाँवों में गड़ेंगे जब
सामने पड़ेंगे जब

तुमको रुलायेंगे
टुट टूटी सड़कें
प्रभुताई, मनीहाई
की मोटी नसें

देख जिन्हें गुस्से से उबलता हूँ
उबलता हूँ
उबलता हूँ
पर तो कुछ करता नहीं !

[क्रोध अभिमान भी प्रभु को अर्पण कर दो
तस्मिन्नेव करणीयम् क्रोधाभिमानादिकम्]
तुम भी करोगे क्या
आओ !
सब कुछ खोया है जब मैंने
एक एक कर
मोह क्या इसी का करूँ ?
क्रोध, अभिमान का ?
इसको भी माँगते हो ?
ले जाओ !



अर्द्ध-स्वप्न का नृत्य

दीपक की लौ काँपी
परदों में लहर पड़ी

शीशे मे अनजाने तन के आभास हिले
अनदेखे पग मे जादू के घुंघरू छमके
क़ालीनो के ऊनी फूल दबे और खिले
थाप पड़ी पहले कुछ तेज़ी से, फिर थम के

किसने छेड़ी पिछले
जनमों मे सुनी हुई
एक किसी गाने की
पहली रंगीन कड़ी

अगरु के कोहरे से निर्मित हल्के नभ के
डोरे सहसा जैसे कमरे में घूम गये—
हाथों में ताज़ी कलियों के कंगने खनके
कन्धों पर वेणी के पन्नगफन झूम गये

दीपक के हिलते
आलोकों को छेड़ गई
कम्प की लहराती
बाँहें घड़ी घड़ी

इन बहकी घड़ियों की गहरी खामोशी में
जाने कब रात हुई जाने कब बीत गई
मन के अँधियारे में उभरे धीमे धीमे
स्वर्गों के द्वीप नये, वाणी की भूमि नई

मणियों के वृक्ष नये
जिन पर हम भूल गये
लक्ष्यहीन यात्राओं की
यह सुनसान घड़ी

नर्तन यह खींच कहाँ मुझको ले जायेगा
क्या ये सब पिछली तट-रेखाएँ छूटेंगी
या दीपक गुल होगा उत्सव थम जायेगा
गीतों की सब कड़ियाँ सिसकी में टूटेंगी

जाने क्या होता है ?
मन है या टोना है ?
या यह भी सोना है ?
घटना की एक लड़ी ।

दीपक की लौ काँपी
परदों में लहर पड़ी

बातें

सपनों म डूबे से स्वर में
जब तुम कुछ भी कहती हो
मन जैसे ताज़े फूलों के झरनों मे धुल जाता है
जैसे गन्धर्वों की नगरी म गीतों से
चन्दन का जादू दरवाजा खुल जाता है

बातों पर बातें, ज्यों जूही के फूलों पर
जूही के फूलों की परतें जम जाती हैं
मन्त्रों में बँध जाती है ज्यों दोनो उम्रें
दिन की ढलती रेशम-लहरें थम जाती है !

गोधूली में चरवाहों की वंशी जैसे
शब्द कहीं दूर, कहीं दूर अस्त होते है

खामोशी छाती है
एक लहर आती है
सहसा दो नीरव होठों की सार्थकता
दो कँपते होठों तक आने में रह जाती है !

साँझ के बादल

ये अनजान नदी की नावें
जादू के से पाल
उड़ाती
आतीं
मन्थर चाल !

नीलम पर किरनों
की साँझी
एक न डोरी
एक न माँझी
फिर भी लाद निरन्तर लातीं
सेन्दुर और प्रवाल !

कुछ समीप की
कुछ सुदूर की
कुछ चन्दन की
कुछ कपूर की
कुछ में गेरू, कुछ में रेशम
कुछ में केवल जाल !

ये अनजान नदी की नावें
जादू के से पाल
उड़ाती
आती
मन्थर चाल



यह ढलता दिन

यह ढलता दिन, निखरे बादल, नेह डूबा डूबा सा जी
जैसे कोहरे में डूबी हो रंगीन गुलाबों की घाटी
अनजान दिशाओं में जाती यह श्याम घटाओं की रेखा
मटमैले आँचल पर मोती सा
चाँद ढलक आया लेकिन—
मैंने जो आँसू पोंछ लिया, किसने ? जाना किसने देखा ?

नावों ने लंगर डाल दिये, घाटों पर संध्या-दीप जले
मेले से सब राही लौटे, अपनी अपनी चौपाल तले
गहना गुरिया, पंखे डलिया, टिकुली बेंदी, सेन्दुर सारी
सोलह सिंगार सजे, सब गाँव
उनींदा हो आया लेकिन—
सुनसान कछारों से मुझको आवाज़ किसी ने सहमा दी

आवाज़ मगर वह झूठी थी, नावें झूठी, मेले झूठे—
ये बादल शक्ल बदलते हैं, बादल उमड़े, बादल टूटे
जी टूटा सा था बहक गया, यह बादल का ताना बाना
कुछ गाँव बसे, कुछ गाँव मिटे
बाँहों में चुपके से लेकिन—
मैंने जो आँसू पोंछ लिया, किसने देखा किसने जाना

यह बादल का ताना बाना
बेहद डूबा डूबा सा जी
जैसे कोहरे में डूबी हो
रंगीन गुलाबों की घाटी

धुँधली नदी में

आज मैं भी नहीं अकेला हूँ
शाम है, दर्द है, उदासी है

एक खामोश साँझ-तारा है
दूर छूटा हुआ किनारा है
इस सभी से बड़ा सहारा है
एक धुँधली अथाह नदिया है
और भटकी हुई दिशा सी है

नाव को मुक्त छोड़ देने में
पतवार तोड़ देने में
एक अज्ञात मोड़ लेने में
क्या अजब सी, निराश सी,
सुख-प्रद, एक आधारहीनता सी है

प्यार की बात ही नहीं साथी
हर लहर साथ साथ ले आती
प्यास, ऐसी कि बुझ नहीं पाती,
और यह ज़िन्दगी किसी सुन्दर
चित्र में रंगलिखी सुरा सी है

शाम है, दर्द है, उदासी है
आज मैं भी बहुत अकेला हूँ

शाम : दो मनःस्थितियाँ

शाम है, मैं उदास हूँ शायद
अजनबी लोग अभी कुछ आयें
देखिये अनछुए हुए सम्पुट
कौन मोती सहेज कर लायें
कौन जाने कि लौटती वेला
कौन से तार कहाँ छू जायें !

बात कुछ और छेड़िए तब तक
हो दवा ताकि बेकली की भी,
द्वार कुछ बन्द, कुछ खुला रखिए
ताकि आहट मिले गली की भी—

देखिये आज कौन आता है—
कौन सी बात नयी कह जाये,
या कि बाहर से लौट जाता है
देहरी पर निशान रह जाये,
देखिये ये लहर डुबोये, या
सिर्फ तटरेख छू के बह जाये,

फूल पर कुछ प्रवाल छुट जायें
या लहर सिर्फ फेन वाली हो
अधखिले फूल सी विनत अंजुली
कौन जाने कि सिर्फ ख़ाली हो ?

२

वक्त अब बीत गया बादल भी
क्या उदास रंग ले आये,
देखिए कुछ हुई है आहट सी
कौन है ? तुम ? चलो भले आये!
अजनबी लौट चुके द्वारे से
दर्द फिर लौट कर चले आये

क्या अजब है पुकारिये जितना
अजनबी कौन भला आता है
एक है दर्द वही अपना है
लौट हर बार चला आता है

आखिरी गीत मन उसी के हैं
आखिरी चाल भी उसी की है
आयेंगे दिन सभी उसी के हैं
अनछुई रात भी उसी की है
जीत पहले पहल मिली थी जो
आखिरी मात भी उसी की है

एक सा स्वाद छोड़ जाती है
ज़िन्दगी तृप्त भी व प्यासी भी
लोग आये गये बराबर हैं
शाम गहरा गई, उदासी भी !

अन्धेरे का फूल

रात आधी बीतने पर
डूब जाता चाँद
एक बहुत विशाल जादू-फूल खिलता है
अँधेरे का

गली, आँगन, छत, मुँडेरों में
झाँकती फागी पँखुरियाँ उभरती हैं

कुछ अनदेखी, कुछ उजागर
ये कई गलियाँ
दीखती हैं उस बड़े फूल से उगती
तुम्हारी गौर-श्यामल उँगलियाँ

और मेरा मन
कभी उस फूल के अन्दर कभी बाहर
भटकता है—
उस भ्रमर सा
फूल ने जिसको न रक्खा कैद
लेकिन मुक्त भी छोड़ा नहीं !

यादो का बदन

यादो का बना हुआ बदन

कॉपते अधेरे मे
बॉहो के घेरे में
चुपके से आकर सो जाता है

छाया की रेखा सा
विद्युत् आवेग सा
साँसों में चलता है
अङ्ग अङ्ग थमता है
रंगीले सपनों में
करवट लेता है—जो आता है

यादों का खोया हुआ मन

आँगन-बेली

फूली है आँगन की बेल

ओसधुला एक गझिन गुच्छा
अनजाने में
कोहनी से छू गया

पहले भी ऐसा होता था बहुधा
लेकिन
आज लगा एक अजब सवेरा
बिखरी सा नया नया

यह भी थी आँगन की धूप
किन्तु
महक रही आज यहीं दूर से
आज गमित गुच्छे फूल होंगे
धुले हुए—
चन्दा से, आँसू से, ओस से, प्यार से !

ढीठ चाँदनी

आजकल तमाम रात
चाँदनी जगाती है

मुँह पर दे दे छींटे
अधखुले झरोखे से
अन्दर आ जाती है
दबे पाँव धोखे से

माथा छू
निंदिया उचगाती है
बाहर ले जाती है
घण्टों बतियाती है
ठण्डी ठण्डी छत पर
लिपट लिपट जाती है
निडर मदमाती है
जगरिया बिता रात !

आजकल तमाम रात
चाँदनी जगाती है।

दिन ढले की बारिश

बारिश दिन ढले की
हरियाली—भीगी, बेबस, गुमसुम
तुम हो

और,
और वही घबराई मुद्रा
कोमल शंख वाले गले की
वही झुकी मुंदी पलक सीपी में खाता हुआ पछाड़
बेज़बान समन्दर

अन्दर
एक टूटा जलयान
थकी लहरों से पूछता है पता
दूर—पीछे छूटे प्रवालद्वीप का

चाहूँगा मैं।
सिर्फ काँपती उँगलियों से छू लूँ तुम्हें
जाने कौन लहरें ले आई हैं
जाने कौन लहरें वापस बहा ले जायेंगी

मेरी इस रेतीली वेला पर
एक और छाप छूट जायेगी
आने की, रुकने की, चलने की

इस उदास साँझ की
पास पास चुप बैठे
गुमसुम दिन ढलने की।

शाम, एक थकी लडकी

नींद भरी, तरलायित, गहरी, स्वप्नाकार आँख मूँद
शाम—
एक सफर में थकी हुई लड़की सी
आई और मेरे पास बैठ गई

बैठी रही गुमसुम धीरे
से उठी,
और रंगे हुए अंग ढील
उतर गयी
गुनगुनी धूप की नदी में

साँवला सलोना जिस्म
कुछ क्षण लहरों के हिलकोरों पर
कोपा
फिर घुलने लगा—
घुलने लगा पानी की लपट में
नीली मोमबत्ती सा।

ओ जल-निमग्ना!
ओ लहर विह्वल!
अपने को थामो, सम्हालो—

मैं हूँ नदी तट की रेत।
अर्पित हूँ,
लेकिन किसी भी क्षण पाँवों तले से
बह जाऊँगा

अन्तहीन यात्रा

निद्रा देती एक दुबली बाँह सी
यह मेड
अँधेरे में टूटते चुपचाप
बूढ़े पेड़

ख़त्म होने को न आयेगी कभी क्या
एक उजड़ी माँग सी यह धूल धूसर राह ?
एक दिन क्या मुझी को पी जायेगी
यह सफ़र की प्यास, अबुझ, अथाह ?

क्या यही सब साथ मेरे जायेंगे
ऊँघते कस्बे, पुराने पुल ?
पाँव में लिपटी हुई यह धनुष-सी दुहरी नदी
बाँध देगी क्या मुझे बिल्कुल ?



एक छवि

छिन में धूप
छाँह छिन ओझल,
पल पल चंचल—
गोरी दुबली, बेला उजली, जैसे बदली क्वाँर की

तुनुक टाँगी,
हरी पर्त में
हल्की भीगी
धागा लपेटे—एक कली कचनार की

नमित पता में
झोंके सी उस की
लहर—सपन में

जिसने आकर
भर दी है
छवि और उजागर
मेरे छोटे सूनेसे घर, धूपधुली छत, छाहलिपी दीनार की !

चैत का एक दिन

सूरज में नहाये हुए
नीले कमल-सा यह चैत का नशीला दिन
मैंने बिताया नहीं
केवल गुज़ार दिया

६

बेसुध तुम्हारे पास बैठे हुए
लम्बी तुम्हारी रुक्ष वेणी को
अँगुली में बार-बार प्यार से लिपटा कर
सहारे छोड़ दिया

निंदियारी आँखों से
बार बार देखने की कोशिश की—
देखा नहीं,
और ऐसी नाज़ुक टहनी सी इस देह की
हल्की गरमाई को केवल महसूस किया,
जाना नहीं

शाम हुई
केवल तुम्हारी रूपगन्ध से भरा मन
टूट टूट रह रह अलसाने लगा
मैंने कुछ नहीं किया
धीमे से तुम्हारे माथे पर झुके
रूखे हठीले एक कुन्तल को
होंठों से सँवार दिया

सुनो
सच बतलाना
क्या तुमको कभी भी
किसी ने भी
इतना उजला, कोमल, पारदर्शी प्यार दिया ?

फूल, सागर, सीपी

[तुम्हारे हाथों में लाल फूलों का एक
गुच्छा देख कर]

फूल
का अधखिला अन्तस्
एक रंगीन लहराता अतृप्त सागर है–
तुम्हारी मुलायम अँगुलियों के तटों से
बेबस सा टकरा कर बार बार अपने में
वापस लौट आता है

कुछ भीगी मणियाँ
कुछ आँसू का खारा जल
किसी सिसकती उमंगों का स्वप्नाभीत कम्पन
नियति के टुकड़ों सा
छूट छूट जाता है
मुट्ठी से तुम्हारी

प्यारी,
हल्की, रतनारी सीपी से
दो पतले होंठ
आतुर हिलकोरों से रह रह कर कँपते हैं

क्या यह उमड़ता, अमयान्वित, व्याकुल ज्वार
इन पतले होंठों में बँध कर
सिमट जायेगा
स्वाती की केवल एक बूँद सा—पकने को—
पीड़ा से गहरे छन कर मोती रचने को—
सब टूट टूट जाने पर भी अटूट बचने को—

कोमल तुम्हारी अँगुलियों से
फिसलने को आतुर
एक बँधा फूल सागर का !

○ दूसरे दिन सुबह

शेष है अब भी हवाओं में
एक हल्की लहर लेती महक
उस खिलते गुलाबी जिस्म की
प्यार से नीले पड़े रतनार होठों की खनक
पत्तियों में शेष है अब भी

अभी तक रुका हुआ है
साँस की हर गुम्फ में
वह लहर पर लहर लेता रूप
मृदुल धुप धुप गुनगुनी में देह के स्पर्श से
अब भी घुली है सुबह की बारीक कच्ची धूप।

वह तुम्हें पाने न पाने की अजब सी टीस
रीती नहीं—रीती नहीं
शाम में घुलती हुई वह धूल भी दुपहर
बीत कर भी अभी बीती नहीं—बीती नहीं

अंजुरी भर धूप

अंजुरी भर धूप सा
मुझे पी लो !
कण कण
मुझे जी लो !

जितना हुआ हूँ आज तक मैं किसी का भी—

बादल नहाई घाटियों का,
पगडण्डी का,
अलसाई शामों का,
जिन्हें नहीं लेना कभी उन भूले नामों का,

जिनकी याद थकनों में पुकारती है
जिनके आगे मेरा सारा अहम हारा है,
गजरे की चोटों का
रंग रंगे फूलों का,
नीराये सागर के उभार धुले कूलों का,
हरियाली ढालों का,
अपने घर जाने वाली प्यारी राहों का—

जितना इन सबका हूँ
उतना तुम्हें मिल कर भी थोड़ा पड़ेगा
मैं जितना तुम्हारा हूँ

जी लो
मुझे क्षण क्षण
अंजुरी भर
पी लो!



घाटी का बादल

जाने कब, किस गुहानीड से उडकर गुपचुप
मेघधूम का योजन विस्तृत पक्षी सहसा
प्रगट हो गया घाटी सुदूर छोर पर
गहरे भूरे, मीलों लम्बे डैने खोले

प्रातधूप की जरतारी ओढ़नी लपेटे
अभी अभी जागी
खुमार से भरी
नितान्त कुमारी घाटी
इस कामातुर मेघधूम के
औचक आलिंगन में पिस कर
रतिश्रान्ता सी मलिन हो गई!

थका हुआ बादल
पश्चिम के श्याम हिमवृत शिखर पर
शीतल कपोल धर
क्षण भर गहरी नींद सो गया,

धीरे धीरे
मूर्च्छित घाटी में जैसे कुछ साँसें लौटीं
अलस झकोरे, देवदार में, चीड़कुंज में
गंध लदे-मादक भीगे से

मेघधूम ने करवट ली—
अँगड़ाई में ज्यों
सौ सौ गहरे भूरे डैने आगे पसरे,
उड़े,
खड़े पर्वत शिखरों से टकरा कर
मड़राये
मुड़े—
कटानों में
दर्रों में भटके

फिर ढालों पर धीमे धीमे हाँफ हाँफ कर चढ़ने लगे
बटोही जैसे !

जहाँ अभी घाटी थी लहरधारियों वाली
हरे खेत थे
लाल छतों वाले छोटे पर्वती गाँव थे
वहाँ नहा है कुछ भी अब
वह जादू था
वह इन्द्रजाल था
लुप्त हो गया !
सच है केवल मेघधूम यह
ढालों से टकराते क्षीर महासागर सा
फेंक रहा है उजला फेना

लाल छतों वाले छोटे पर्वती गाँव
या हरे खेत
या लहरधारियों वाली घाटी
ये थे केवल मूगा मछली सीप सिवारें
जो धाराओं की उछाल म ऊपर आयें
कुछ क्षण ऊपर तैरे फिर जलमग्न हो गये !

नीचे मेघधूम का सूना सूना सागर
ऊपर केवल नभ
गुमसुम सा, उदासीन सा
और बीच में निराधार सा तिरा नीर का पूरा पर्वत !

कैसे अचल खड़ा है
क्या यह भी जादू है ?

डालों पर चुपचाप खड़े हैं
चीड़ों के छितरे छितरे वन ।
उड़ती हुई तितलियों जैसे
घासों के सोनहरे पत्ते
उलटे औ' फिर
ओझल हो गये ।

नीचे के फटक झाड़ों में अटक अटक कर
ऊपर चढ़ता जाता है अजगर सा बादल
तने, डालियाँ, पत्ते पहले धूसर पड़ते,
लगता जैसे पीछे हटते
धीरे धीरे धुँधली लकीरों में मिट जाते ।

कुछ भी नहीं रहा
उत्तुंग शिखरमाला वाला गर्वीला पर्वत
रंगों के कच्चे धब्बे सा धुला, बह गया—
घाटी, गाँव, खेत, वन, झरने
सकल सृष्टि ज्यों धुँआ धुँआ अणुओं में
विशृंखल विभक्त हो बिखर गई है ।
बस बचा हूँ केवल मैं
या मेरे चारों ओर दूर तक फैला हुआ सफेद अँधेरा

सारा सब कुछ नष्ट हो गया
गाँव, जहाँ पर मेरा घर था
पगडण्डी, जिन पर चल मैं शिखरों तक पहुँचा
जङ्गल, जिसमें बड़ी साँझ तक भटका खोया
झरने, जिनमें थके धूल से सने पाँव धो ।
थकन मिटाई,

सब कुछ—सब कुछ—नष्ट हो गया

शेष बचा हूँ मैं
या मुझको घेरे उजली धूम्र-शून्यता।

धीरे धीरे हार रहा हूँ,
इस ऊँचाई पर चढ़कर ही
जान सका हूँ—हम सब
क्या हैं ?
सिर्फ,
बहुत ऊँचे पहाड़ पर चढ़ते बौने।

बौना—जिसको केवल दो पग दीख रहा है
दो पग आगे
दो पग पीछे
दो पग ऊपर
दो पग नीचे
दो पग की ही केवल जिसकी ज्ञान-परिधि है !
कहाँ पड़ेगा गलत कदम
औ' मीलों लम्बी घाटी मुझको खा जायेगी !

यह अथाह शून्यता
डरा मैं
हाथों से टटोल कर किसको खोज रहा हूँ
यह है पत्थर, ये हैं जड़ें
किन्तु यह क्या है ?
अँधियारे में नरम परस सा
किसका हाथ छू गया मुझको ?

"मैं हूँ एक दूसरा बौना
पगडण्डी से जरा अलग हट
साथ तुम्हारे मैं चलता आया हूँ अब तक।
हारो मत, साहस मत छोड़ो
मैं भी हूँ बौना, वामन हूँ
किन्तु तीन पग माँगे हैं मैंने धरती से
दो पग तुमको दीख रहा है
उसे पार कर चढ़ो
तीसरा पग तो मुझमें सार्थक होगा
मुझ पर छोड़ो,

हर मनुष्य बौना है लेकिन
मैं बौनों में बौना ही बनकर रहता हूँ
हारो मत, साहस मत छोड़ो
इससे भी अथाह शून्य में
बौनों ने ही तीन पगों से धरती नापी।"

पलकें पड़ने लगा
दृष्टिरोधी वह परदा
सहसा मुखर हो उठी वह निश्शब्द शून्यता

सीखें नहीं,
मगर चीड़ों ने सन सन कर मदमाती गन्धों वाले
पवन सँदेसे भेजे
झुरमुट में सहमी चिड़ियों ने
दबे कण्ठ से मुझे पुकारा
दूर कहीं सुन पड़ा पहाड़ी गाने का स्वर।

थोड़ा सा विश्राम लौट कर आया मुझमें
दीख नहीं पड़ते हैं
पर इस गहन कुहा में
कितने ही जगमगे रास्ते आते जाते
पथिकों से अब भी सजीव हैं
अपराजित है जिनमें चलने की आकांक्षा ।
दीख नहीं पड़ता है सूरज
पर दो शिखरों बीच झर रही
दिव्य ज्योति सी धूप धुँधली ।

नदियाँ नीचे चमक उठीं रूपाडोरी सी
और दूधिया शीशे में से
झलक उठे हैं वृक्ष काँच के, पुल लोहे के,

धीरे धीरे परतें फटने लगा धूम की
यहाँ वहाँ पर
पिघले सोने के पानी सी
धूप टपकने लगी
गाँव खिल गये फूल से

बादल जैसे आया वैसे लौट गया है

केवल कुछ बादल के पीछे छूटे टुकड़े
छायादार झाड़ियों में विश्राम कर रहे
जैसे धौरी उजली गायें

एक अकेला चञ्चल बादल
चाँदी के हिरने सा घाटी में चरता है।